



International Journal of Advanced Academic Studies

E-ISSN: 2706-8927

P-ISSN: 2706-8919

www.allstudyjournal.com

IJAAS 2021; 3(4): 37-39

Received: 03-06-2021

Accepted: 13-07-2021

डॉ० क्षमा मिश्रा

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
भदावर विद्या मन्दिर पी०जी० कॉलेज,
बाह, आगरा, उत्तर प्रदेश, भारत

प्राचीन न्यायिक-प्रक्रिया

डॉ० क्षमा मिश्रा

प्रस्तावना

प्राचीन न्यायिक प्रणाली 'धर्म' पर आधारित थी। जैसे- सामाजिक धर्म, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म आदि। न्यायिक प्रक्रिया का स्पष्ट रूप से संकेत ब्राह्मण-ग्रन्थों से प्रारम्भ होता है। शतपथ ब्राह्मण में 'प्रश्निन्', 'अभिप्रश्निन्' तथा 'प्रश्नविवाक' का संकेत मिलता है।¹ अतः ब्राह्मण काल में न्यायिक प्रशासन और प्रक्रिया का सूत्रपात होना स्वीकार किया जा सकता है। इसके पश्चात धर्मसूत्रकाल तथा स्मृतिकाल में 'व्यवहार' के रूप में 'न्यायिक प्रक्रिया' का स्पष्ट और सुव्यवस्थित वर्णन प्राप्त होता है।

व्यवहार का शाब्दिक अर्थ है (वि-विभिन्न, अव-संशय तथा हार-निराकरण) अनेक प्रकार के विवाद का संशय या निराकरण।² व्यवहार (न्यायिक प्रक्रिया) में आवेदन से लेकर साक्षी तक के अंश समाविष्ट होते हैं। मिताक्षरा की परिभाषा इस ओर संकेत करती है। उसका सारांश इस प्रकार है- "एक ही विषय में दो के पक्ष के निर्णय और उसके लिए प्रयुक्त प्रक्रिया ही व्यवहार है।"³ कौटिल्य ने व्यवहार के विषय के लिए 'विवाद पद' शब्द का प्रयोग किया है।⁴ ऐसे विवादों का न्यायालय में प्रस्तुत होना आवश्यक है। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी के द्वारा पीड़ित किया जाता था, जो व्यवहार एवं रीतियों के विरुद्ध था और पीड़ित व्यक्ति जब राजा के पास अपना कष्ट निवेदन करता था। तो वही व्यवहार (मुकदमें) अर्थात् 'वाद' का कारण था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी विवाद का अर्थ मुकदमें से ही था।⁶

प्राचीन काल में न्यायिक प्रक्रिया के चार चरण माने गये थे, जो निम्नलिखित हैं-

1. वाद-पत्र का प्रस्तुतीकरण।
2. प्रतिवादी का उत्तर।
3. प्रमाण: (अ) मानुष, (ब) दिव्य।
4. निर्णय एवं कार्यान्वयन।

प्रथम चरण: वाद-पत्र का प्रस्तुतीकरण

न्यायिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में न्यायालय में समस्त 'सभ्यों', 'अमात्यों' व अन्य सदस्यों सहित सर्वोच्च न्यायपति राजा अथवा (मुख्य न्यायाधीश) प्राङ्गविवाक के उपस्थित होने के पश्चात् पहला कार्य वादी द्वारा वाद-पत्र का प्रस्तुतीकरण था। यही व्यवहार (मुकदमें) का मूल था। वादी द्वारा प्रस्तुत किया गया वाद-पत्र किसी 'विवाद-पाद' के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं, यह विचार करने के उपरान्त ही राजा या न्यायाधीश द्वारा वाद को ग्रहण किया जाता था। याज्ञवल्क्य ने वाद-पत्र को न्याय-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग माना था और उसकी शुद्धता पर विशेष बल दिया था। क्योंकि वादी द्वारा वाद में किसी प्रकार की अशुद्धि होने पर उसका पक्ष वहीं समाप्त समझा जाता था।⁷ अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए उपस्थित हुए अभियोक्ता और अभियुक्त के देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम, काम और अपराध का समय के साथ-साथ साल, ऋतु, महीना, पक्ष, दिन, स्थान और साक्षी आदि का भी पूर्ण विवरण लिखा जाता था। तत्पश्चात् वादी और प्रतिवादी के प्रश्नों को अर्थानुसार क्रम से लिखा जाता था। इसके बाद न्यायाधीश द्वारा उसका अच्छी तरह से अध्ययन किया जाता था।⁸ याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार वादी द्वारा प्रस्तुत वाद में सर्वप्रथम वादी का पूर्ण परिचय, उसके बाद वर्ष, माह, पक्ष, दिन, नाम तथा जाति लिखी जानी चाहिए।⁹ न्याय-प्रक्रिया में कहीं भी कोई छोटी सी भी भूल न हो सके, इसकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। कौटिल्य ने भी विवाद-पद के सन्दर्भ में वादी एवं प्रतिवादी दोनों के कथनों को लिखे जाने की समान व्यवस्था दी थी।

द्वितीय चरण: प्रतिवादी का उत्तर

न्यायालय में प्रतिवादी के उपस्थित होने पर वादी के वाद-पत्र के आधार पर उससे प्रश्न किये जाते थे और प्रतिवादी का उत्तरदायित्व था कि वह उन प्रश्नों के सही उत्तर दे। यह उत्तरवादी की उपस्थिति में ही दिये जाते थे।¹⁰ कौटिल्य के अनुसार न्यायालय द्वारा वादी से किसी बात का जवाब

Corresponding Author:

डॉ० क्षमा मिश्रा

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
भदावर विद्या मन्दिर पी०जी० कॉलेज,
बाह, आगरा, उत्तर प्रदेश, भारत

माँगे जाने पर उस दिन ही उत्तर न दिये जाने पर वादी पराजित समझा जाता था। क्योंकि वादी अपने प्रत्येक कार्य का पहले से ही निश्चय करके दावा दायर करता था। परन्तु प्रतिवादी ऐसा नहीं कर सकता था, इसलिए प्रतिवादी तुरन्त जवाब न सके तो उसको तीन रात्रि से लगातार सात रात्रि की अवधि जवाब देने के लिए दी जाय।¹¹ तत्पश्चात् भी प्रतिवादी द्वारा उत्तर न मिलने पर उसको तीन पण से लेकर बारह पण तक का दण्ड दिया जाता था। डेढ़ महीनें तक भी उत्तर न दिये जाने पर भी प्रतिवादी को पराजित समझा जाता था।¹² ऐसा ही विधान मनुस्मृति में भी किया गया है—

“न चेत् त्रिपक्षात् प्रब्रूयाद् धर्मं प्रति पराजितः।” (मनुस्मृति 8/58) वादी और प्रतिवादी के प्रश्नों को अर्थानुसार क्रम से लिखकर ही उन पर भली प्रकार विचार करने का विधान था। वादी के दावे या अभियोग के समय उसमें प्रति-अभियोग आरम्भ नहीं हो सकता था किन्तु साहस एवं पारुष्य में इसकी छूट थी। कौटिल्य के अनुसार भी कलह, साहस, व्यापारियों तथा संघों के झगड़ों को छोड़कर प्रतिवादी किसी बात को लेकर वादी पर उल्टा मुकदमा नहीं चला सकता था और प्रतिवादी पर भी उसी बात को लेकर दुबारा मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था।¹³

गौतम धर्मसूत्र में राजा को यह भी अधिकार दिया गया था कि यदि विषय की महत्ता विशेष हो तो यदि प्रतिवादी को उत्तर देने के लिए अधिक समय दिया ही जाना चाहिए तो उसे एक दो माह तो क्या एक वर्ष तक उनके उत्तर की प्रतीक्षा करनी चाहिए।¹⁴ याज्ञवल्क्य ने प्रतिवादी द्वारा उत्तर दिये जाने के सन्दर्भ में लिखा है कि— साहस, चोरी, पारुष्य, दुग्ध देने वाली गाय के महापातक, मनुष्य-हत्या, धन का नाश एवं स्त्रियों से सम्बन्धित विवादों का तत्काल उत्तर देना चाहिए, अन्य विवादों में काल-बन्धन नहीं है।¹⁵

तृतीय चरण: प्रमाण

किसी भी वाद-विवाद में सत्य-असत्य का निश्चय प्रमाण के आधार पर ही किया जाता सकता है। इन प्रमाणों का विशद वर्णन और विस्तृत नियम हमें प्रायः सभी स्मृतियों एवं कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्राप्त होता है। प्राचीन समय में चार प्रकार के प्रमाण बताये गये थे—लिखित (दस्तावेज), भुक्ति (कब्जा), साक्षी तथा इन तीनों के अभाव में चतुर्थ-दिव्य (एक प्रकार की कठिन परीक्षा)।¹⁶ प्रथम तीन मानवी प्रमाण थे तथा अन्तिम को दैवी प्रमाण माना गया था। इस बात पर विशेष बल दिया जाता था कि यथासम्भव मानवी प्रमाणों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

चतुर्थ चरण: निर्णय

न्यायिक प्रक्रिया में याज्ञवल्क्य ने चतुर्थ चरण को 'सिद्धि या निर्णय' नाम दिया था। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि वादी साक्षी द्वारा अपने वाद को सत्य प्रमाणित कर लेता था तो वह विजयी होता था, किन्तु विपरीत स्थिति में वह पराजित घोषित किया जाता था।¹⁷ न्यायिक-निर्णय के सम्बन्ध में 'पश्चात्कार' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ कौटिल्य के अनुसार हिंसाजन्य अपराधों में प्रतिवादी द्वारा उसी दिन उत्तर न देने पर उसे पराजित मानने के अर्थ में उक्त शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार विवाद में दिये गये निर्णय के एक प्रकार को 'हीन-पत्रक' भी कहा जाता था। मनु की व्यवस्था के अनुसार यह 'हीनपत्रक' वादी को इसलिए दिया जाता था कि आगे चलकर उसे अर्थदण्ड न देना पड़े। कौटिल्य के अनुसार धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा ये विवाद के निर्णायक होने से राष्ट्र के चार पैर समझे जाते थे, इन्हीं पर राष्ट्र निर्भर माना जाता था। इनमें से सबसे अगला पिछलों का बाधक था।

गौतम के अनुसार वेद, धर्मशास्त्र, अंग, पुराण एवं देश, जाति, कुल तथा धर्म के आधार पर न्याय (निर्णय) करना चाहिए।¹⁸

न्याययुक्त अर्थ (निर्णय) का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तर्क भी एक उपाय माना जाता था। तर्क द्वारा विचार-विमर्श करके यथोचित पक्ष में निर्णय करने का आधार भी गौतम धर्मसूत्र (2/23/23-24) में मिलता है।

कई आचार्यों का कथन था कि विवाद (असहमति) होने पर जो पहले ही अदालत में आये, उसकी जीत समझनी चाहिए, क्योंकि वह दूसरे के द्वारा दुःख दिये जाने पर उसे सहन न कर पाने के कारण सबसे पहले कहने (निवेदन करने) धर्मस्थ के पास आयेगा। परन्तु कौटिल्य ऐसा नहीं मानते। उनका कहना था कि चाहे कोई अदालत में पहले आये या बाद में, विवाद का निर्णय साक्षियों के कथनानुसार ही होना चाहिए।¹⁹ साक्षियों के न होने पर चोट आदि से या अन्य लक्षणों से कलह का स्वरूप जानकर निर्णय करना चाहिए। तत्पश्चात् भी कोई निर्णय करना कठिन हो तो त्रयी विद्या में निष्णात पुरुषों से परामर्श लेकर निर्णय करना चाहिए।²⁰

निर्णय होने के पश्चात् भी यदि वादी अथवा प्रतिवादी उस निर्णय से असन्तुष्ट रहते थे तो इस स्थिति में मुकदमें पर पुनः विचार (Remand) करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। प्राचीन न्याय-प्रक्रिया में इसके लिए 'विचार्य' या 'पुनः-विचारण' अथवा 'पुनः व्यवहार दर्शनम्' शब्दों का प्रयोग मिलता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार पूर्व निर्णय बल एवं भय के द्वारा निष्पन्न व्यवहारों एवं स्त्रियों के साथ, रात्रि को, घर के भीतर, ग्राम आदि के बाहर और शत्रुओं द्वारा किये गये व्यवहारों पर पुनः विचार किया जाना चाहिए।²¹ याज्ञवल्क्य का मत था कि सभासदों द्वारा अधर्मपूर्वक देखे गये व्यवहारों के निर्णय पर राजा पुनः विचार करे तथा गलत निर्णय को बदले।²² डॉ० पी०वी० काणे ने याज्ञवल्क्य स्मृति के इस सन्दर्भ में लिखा था कि— “राजा अपने पूर्ववर्ती के निर्णय को जब वह न्यायानुकूल न हुआ हो अथवा अबोधता का परिचायक हो, फिर से दुरुस्त कर सकता था।”²³

प्राचीन न्यायिक-प्रक्रिया के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तत्काल समय में न्यायिक-प्रक्रिया सुव्यवस्थित एवं क्रमागत ढंग से तथा न्यायसंगत निर्णय प्रदान करने वाली थी। वर्तमान न्यायिक प्रक्रिया भारत के संविधान, ब्रिटेन, जपान, जपान, वीट्नाम पर आधारित है। प्राचीन न्यायिक प्रक्रिया की भाँति ही वर्तमान न्यायिक प्रक्रिया में भी उपलब्ध साक्ष्यों/प्रमाणों के आधार पर निर्णय किया जाता है। वादी को इस आधार पर राहत नहीं प्रदान की जाती है कि वह न्यायालय के समक्ष पहले आया है।

संदर्भ

1. शतपथ ब्राह्मण 5/4/4/7 तथा काठक संहिता 27/4।
2. मनुस्मृति 8/1 पर कुल्लूकभट्टः; कात्यायन, व्यवहारमातृका, पृ० 283।
3. दीपमालिका, पृ० 36 तथा स्मृतिचन्द्रिका, भाग-2, पृ० 1।
4. अर्थशास्त्र 3/16/68-72/43; 4/7/82/18।
5. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/5।
6. अपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/11/29/5।
7. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/5।
8. अर्थशास्त्र 3/1/57-58/19-20।
9. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/6।
10. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/7।
11. अर्थशास्त्र 3/1/57-58/40-41।
12. अर्थशास्त्र 3/1/57-58/42-43।
13. अर्थशास्त्र 3/1/57-58/36-38।
14. गौतम धर्मसूत्र 2/4/28।
15. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/12।
16. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/22।
17. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/8।
18. गौतम धर्मसूत्र 2/2/19-20।

19. अर्थशास्त्र 3 / 19 / 73 / 30-32 ।
20. गौतम धर्मसूत्र 2 / 2 / 25 ।
21. याज्ञवल्क्य स्मृति 2 / 32 ।
22. याज्ञवल्क्य स्मृति 2 / 305-306 ।
23. काणे, डॉ० पी०वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 761 ।